HISTORIOGRAPHY OF INDIAN ART

(Proceedings of National Seminar)

Edited by

(Prof.) Balaram Shrivastava

Formerly Head, Deptt. of Art History
BHU, Varanasi

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI-110007

2006

First Edition : 2006

ISBN : 81-7702-116-8

Price : 950.00

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., M.Phil., Ph.D.
For **PRATIBHA PRAKASHAN**
Oriental Publishers & Booksellers
29/5, Shakti Nagar
Delhi-110007
Ph. : (O) 23848485, 42351884 (R) 22912722
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

Laser Type Setting :
Creative Graphics
Delhi-53

Printed at : **Tarun Offset, Delhi-53**

2
कुमारस्वामी का भारत-चिंतन

विद्यानिवास मिश्र

1. तत्त्वदृष्टि

दो-एक महीने पहले का समय देकर कुमारस्वामी जैसे गहन चिंतन करने वाले व्यक्ति के ऊपर कुछ कहना एक ऐसी स्थिति है जिसे यातना की स्थिति ही कहना उचित होगा। कई रातों से कुमारस्वामी को पढ़ रहा हूँ और बहुत भरा हुआ हूँ कुमारस्वामी से, लेकिन उतना भरा होकर भी कुछ कह पाना बड़ा कठिन लग रहा है। उनके विषय में कुछ कहने के पूर्व एक रेखाचित्र प्रस्तुत करना चाहूँगा कि यह आनन्द कुमारस्वामी थे कौन, क्या थे उनके संकल्प?

कुमारस्वामी का जन्म श्रीलंका में हुआ। पिता तमिल मूल के हिन्दू थे, बड़े प्रबुद्ध, शायद उस जमाने में बैरिस्टरी करने वाले कुछ थोड़े से भारतीयों में से स्वयं पाली के बड़े अच्छे विद्वान् थे। दो वर्ष के कुमारस्वामी थे तभी उनकी मृत्यु हो गयी। माँ ब्रिटिश थीं, वे इन्हें ले गयीं। सारी शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ से लेकर विश्वविद्यालय तक इंग्लैंड में हुई और भूगर्भ-शास्त्र में इन्होंने एम०एस-सी० की। उसके बाद श्रीलंका आये; वहाँ भूगर्भ सर्वेक्षण के निदेशक हुए। खोज मिट्टी के भीतर से शुरू की और उस क्रम में इन्होंने भारत का भ्रमण किया। और जिस चीज़ ने सबसे पहले पश्चिम में दीक्षित अत्यन्त विकसित अन्तश्चेतना वाले व्यक्ति को आकृष्ट किया वह वस्तु थी भारतीय शिल्पी की साधना। जिस किसी हस्तशिल्प को उन्होंने देखा और उसने कौशल को देखा, वहीं उन्होंने पाया कि औद्योगिक संस्कृति में कितनी दरिद्रता है और इस संस्कृति में कितनी सम्पन्नता है। इस सम्पन्नता से यह पहला परिचय एक गहरी खोज का बीज बना। भारत घूमते समय वह एक-दूसरे जागरण से परिचित हुए। वह जागरण था स्वदेशी का। यह समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का था। उसी अवधि में कुमारस्वामी गांधी जी के आंदोलन से भी (उत्तर काल में) परिचित हुए, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचित हुए, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचित हुए; अनेक कलाकारों से, अनेक विद्वानों से परिचित हुए, और लगभग पूरे भारत की उन्होंने तीर्थयात्रा की। उन्होंने भारत की स्वदेशी पहचान पायी। इस पहचान ने उन्हें जौहरी बना दिया। उन्होंने जो कुछ कमाया था, जो कुछ उनकी संपत्ति थी, उससे केवल कलाकृतियों का संचय किया, अमूल्य कलाकृतियों का संग्रह किया। और यहीं एक समानान्तर गति है जो मिलती है पुण्यश्लोक राय साहब की साधना से जिन्होंने सारा जीवन भारत कला भवन को

रचने में लगाया। राय साहब ने संकलन नहीं किया, एक रचना की; और भारत कला भवन की रचना ही उनके सामने ज़िन्दगी भर रही। एक बार उन्होंने कहा था कि 'काशी विश्वविद्यालय में बैठा हूँ, मालवीय जी की छाया के नीचे, झूठ नहीं बोलूँगा; मैंने जीवन में कोई भी अगर पाप किया है तो केवल भारत कला भवन के लिए किया है, अगर कहीं झूठ बोलना भी पड़ा है तो केवल भारत कला भवन के लिए।' उन्होंने अपने जीवन का सब कुछ भारत कला भवन को अर्पित किया था। जिस प्रकार उन्होंने भारतीय कला भवन की मानसिक सृष्टि अपने दिमाग में पहले कर ली थी (कला भवन बाद में बना), उसी प्रकार एक संग्रहालय की ही नहीं, उसी प्रकार के वैचारिक निर्माण की कल्पना और धारणा आनन्द कुमारस्वामी ने कर ली थी और 1917 से 1945 तक अपनी मृत्यु पर्यन्त वह बॉस्टन के कला संग्रहालय के सब कुछ थे। वहीं रहे; वहीं रहकर उन्होंने अनेक शास्त्रों में, अनेक विधाओं में और अनेक परम्पराओं में गहरा प्रवेश प्राप्त किया और जो कुछ लिखा वह अद्‌भुत लगता है। उनके एक समीक्षक ने कहा है कि इतनी गणितात्मक, सूत्रात्मक शैली में, इतनी परिच्छिन्न शैली में, इतनी प्रिसाइज शैली में आदमी लिखे और ऐसा लगे कि अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा है, जो कुछ कह रहा है कहीं-न-कहीं तो उसके प्रमाण मौजूद हैं, एक विस्मय है। और प्रमाण कहाँ-कहाँ से लिये हैं? **शतपथ ब्राह्मण** से, जलालुद्दीन रूमी से, मइस्टर एकार्ट से, एक्वीनास से, प्लेटो से, प्लाटीनुस से और उसके साथ तो ऐसी जातियों की लोक-वार्ता से जिनको लोग उस समय भी केवल नेतृत्व के विश्लेषण के विषय मानते थे-'इनसे क्या प्राप्त हो सकता है, सभी पिछले अविकसित चरण के हिस्से हैं, पिछड़े हुए लोग हैं।' वहीं कुमारस्वामी ने प्रमाण खोजा और पाया कि एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जो आज के सभ्य संसार के लिए ऐषणीय है, स्पृहणीय है। उनकी मौलिकता इन सबको जोड़ने में थी। वह स्वयं विश्वास करते थे कि नया कुछ नहीं दिया जा सकता है और नया देने का जो अहंकार होता है वह अहंकार मनुष्य को खाने वाला अहंकार होता है। जो बड़ा कलाकार होता है, बड़ा रचनाकार होता है, वह यह संकल्प लेकर न लिखता है, न रचता है, न देता है, कि वह नया कुछ दे रहा है। वह अपने को इसी रूप में अर्पित करता है कि मैं वह सूत्र हूँ जो अनेक पूर्वविद्ध मणियों के बीच से गुज़र कर के नयी-नयी मालाएँ रचता रहता है, उससे अधिक मेरी भूमिका कुछ नहीं है।

कुमारस्वामी ने शुरू में तो भारत और सिंहल (अब श्रीलंका) के हस्तशिल्पों पर लिखा। बाद में, कला और धर्म की मीमांसा में पड़े। बीच में उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया की यात्रा की थी; उस यात्रा के बाद उन्होंने **हिस्टरी ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट** लिखा। बीच-बीच में वह और भी ग्रन्थ लिखते रहे, जिनमें कला की दृष्टि से बौद्ध मूर्तिकला पर, बौद्ध मूर्ति-चिंतन पर तथा बुद्ध के जीवन पर उनकी पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। यज्ञ पर पुस्तक सबसे पहली थी जो प्रतीक-विद्या की दृष्टि से, मिथक अध्ययन की दृष्टि से आगे के अध्येताओं के लिए स्रोत-सामग्री बनी। आगे के अध्येताओं ने उनसे प्रेरणा ली, जैसे जब बॉश ने '**गोल्डेन जर्म**' लिखा या पॉल मूस ने '**बोरोबदूर**' लिखा तो इन लोगों को आनन्द कुमारस्वामी के '**यक्ष**' से प्रेरणा मिली कि यक्ष को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि यक्ष के बारे में लोक-विश्वास में क्या है, बौद्ध वाङ्मय में क्या है, ऋग्वेद में क्या है, **अर्थववेद** में क्या है, ब्राह्मणों में क्या है, उपनिषदों में क्या है; इस सबमें कौन-सी एक चीज़ समान है, और यक्ष ने क्यों एक जीवन के सूत्र रूप में, जीवन की आत्मा के रूप में हमारे पूरे

चिंतन में, कला-सृष्टि में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह किसी भी अभिप्राय या मिथक को सम्पूर्णता में देखने की जरूरत है। प्रतीक कैसे रचे जाते हैं, कैसे मिथक का विस्तार होता है और उस विस्तार में कैसे नयी सृष्टि हो जाती है, संसार ही नया बदल जाता है, इस प्रक्रिया पर उन्होंने बरसों विचार किया और दूसरों को विचार करने की प्रेरणा दी। लेकिन अपने जीवन के अंतिम भाग में वह विशेष रूप से वेदों के अध्ययन की ओर मुड़े। अपने कई अंतिम भाग में वह विशेष रूप से वेदों के अध्ययन की ओर मुड़े। अपने कई अंतिम पत्रों में, जो अपने कुछ एक-दो प्रिय शिष्यों को लिखे गये हैं, उन्होंने यही लिखा है कि कोई पढ़ने की चीज़ है तो वेद है, मैं अपना समय इसी में लगाना चाहता हूँ। एक पत्र उनका 1947 का है जिसमें उन्होंने इंगित किया कि मैं यहाँ का सब काम समेट कर घर वापस आना चाहता हँ, हिमालय की तलहटी में बसना चाहता हूँ, और अब जब सब काम कर चुका, जब काम शेष का चुका, मैं उस आश्रम में प्रवेश करना चाहता हूँ जहाँ शान्ति है। लोग आयें, मिलें; लेकिन मैं अपने को किसी भी सार्वजनिक कार्य से सम्पृक्त नहीं करूँगा।

पर दुर्भाग्यवश 1947 में ही उनकी मृत्यु हो गई। 1948 में स्वाधीन भारत में, (जिस भारत से उनकी बड़ी आकांक्षाएँ थीं, जैसा 'यंग इंडिया' शीर्षक बड़े निबन्ध में उन्होंने लिखा) वह होते तो उन्हें बड़ी पीड़ा होती कि जिस घर में लौट रहा हूँ कितना बेघर है। वह स्वतंत्र भारत में वापस नहीं आ सके। पर. उनकी स्मृति उनकी जिन रचनाओं में सुरक्षित है आज शायद बहुत कम लोगों के द्वारा पहचानी जायें-क्योंकि उनका समस्त चिंतन, विशेष कर के उत्तरकालीन चिंतन, जिस चीज़ पर चोट करता है वह है आधुनिकता। वह चिंतन प्रतिपादित करता है कि यह जो पश्चिमी संस्कृति का सूर्यास्त काल है, ये जो उस के ह्रास के चरम बिंदु हैं, उन को एक महिमा से मंडित करके हम आधुनिक काल कह रहे हैं और उस देश-काल की उपेक्षा कर रहे हैं जहाँ जीवन बचा हुआ है, जहाँ रोशनी बची हुई है। हम विनाश के कगार पर बैठे हुए हैं, उस रोशनी को अनदेखा कर रहे हैं। अब भी समय है कि सहज, नैसर्गिक और अनायास जो एक जीवन पद्धति परम्परा से प्राप्त है उस पद्धति को, और उस पद्धति ने जिन से मूल्य प्राप्त किये हैं उन प्रथम सिद्धान्तों को, उन **फर्स्ट प्रिंसिपल्स** को पहचानें, पश्चिम के लोग पहचानें, इस रूप से न पहचानें कि पूर्व हमारी ओर झुकेगा, अपनी पहचान करायेगा-इस दृष्टि से पहचानने की आवश्यकता हमारी है। और यह संकल्प उन्होंने अमेरिका में उन लोगों के बीच रहते हुए लिया जो सारे संसार को सभ्य बनाने का अहंकार पाल रहे थे। (द्वितीय विश्व युद्ध की विजय के अनन्तर विशेष रूप से उनके भीतर यह अहंकार समा गया था कि सारे विश्व का कल्याण केवल हम कर सकते हैं।) आनन्द कुमारस्वामी ने उसी अहंकार पर चोट की थी कि यह तुम्हारा अहंकार है कि तुम कल्याण कर सकते हो; अगर इसे छोड़कर अच्छे रह सको तो यह बहुत बड़ी बात होगी। अच्छा कुछ कर सकने की तुम्हारी संभावना चुक गयी है; और अब तुमसे अपेक्षा यह नहीं की जाती कि तुम अच्छे बने रहो, यह की जाती है कि तुम क्षति न पहुँचाओ और कृपा करके अच्छा करने का कोई संकल्प न लो क्योंकि अच्छा करने का संकल्प तुम्हारा एक झूठे दम्भ से प्रेरित होता है, व्यक्तित्व के एक स्फीत अहंकार से प्रेरित होता है। जो तुम से अच्छा सीखेंगे वे बहुत पहले से अच्छे हैं और तुम्हारे बावजूद अभी तक अच्छे हैं।

ऐसे व्यक्ति के चिंतन के बारे में 1982 में उनकी 115वीं जयंती के आसपास (क्योंकि 22

अगस्त, 1870 को उनका जन्म हुआ था।) हम लोग सोचने बैठे हैं तो मैं सबसे पहले यही निवेदन करना चाहता हूँ कि मस्तिष्क में बहुत सारी आशा की लुगड़ियाँ होंगी–हमारे मस्तिष्क में तो स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद के वर्षों ने इतनी लुगड़ियाँ भर दी हैं कि यह पहचान मुश्किल हो गयी है कि हमारी स्वतंत्रता की चेतना के पीछे मूल्य कौन से रहे हैं।–उन लुगड़ियों को झाड़ने का काम मैं कर पाऊँगा मुझे बहुत संदेह है। उलटे मैं ऐसे प्रश्नों की बौछार का शिकार जरूर हो जाऊँगा कि 'इस ज़माने में आप कुमारस्वामी को याद कर रहे हैं, कुमारस्वामी जैसे **फॉसिल** (जीवाश्म) को याद कर रहे हैं!' पर मेरी मजबूरी यह है कि मेरे लिए कुमारस्वामी को याद करना नहीं है, एक ऐसी धधकायी हुई अग्नि को याद करना है जो हमारी है–हम ने धधकायी नहीं है, हम उसकी उपेक्षा कर चुके थे, पर वह आग हमारी है। धधकाने का काम किसी ऐसे व्यक्ति ने किया जो एक विदेशी माता से जन्मा, इस देश में जिसने शिक्षा नहीं ग्रहण की, लेकिन इस देश से ही जिसने सारा जीवन-रस ग्रहण किया और इसी रस के आधार पर एक अजनबी परिस्थिति में निरन्तर हमारी अस्मिता के लिए जूझता रहा, केवल अपनी निजी अस्मिता के लिए नहीं।

कुमारस्वामी लैटिन और ग्रीक के बड़े पंडित थे। पश्चिम के विद्वान् उस पांडित्य के आगे अपने को प्रतिहत महसूस करते थे। वह मध्ययुगीन यूरोप की संस्कृति-सम्पन्नता के बहुत अच्छे व्याख्याता थे, मध्ययुगीन ईसाई सन्तों की साधना के मर्मवेत्ता थे और उस साधना में प्राचीन भारतीय चिंतन की प्रतिच्छवि पाते थे। ('प्राचीन भारतीय' कहना गलत होगा क्योंकि भारतीय चिंतन में प्राचीन और आधुनिक का भेद वह करते ही नहीं थे;)वह 'भारतीय' को एक सनातन प्रवाह के रूप में देखते थे और यह महसूस करते थे कि भारत में कोई चीज़ पुरानी नहीं होती, कोई चीज़ नयी नहीं होती; भारत में वस्तु बार-बार पैदा होती रहती है, पुनः-पुनः जायमान होती रहती है, संस्कृति पुनः-पुनः जायमान होती रहती है। यह जो उषा की तरह पुनः-पुनः जायमान होना है वही असली मानवीय संस्कार है। वह यह देखते थे कि तथाकथित पुनर्जागरण काल से पश्चिम ने एक ऐसा मोड़ लिया जो उसके विनाश का कारण बना, जिस की परिणति दो विश्व युद्धों में हुई, विमानवीकरण वाले औद्योगीकरण में हुई और उनकी मृत्यु के अनन्तर, मनुष्य के एक विशेष प्रकार के यंत्रीकरण में हुई जिसकी उन्होंने कल्पना नहीं की थी। और यही अचरज होता है कि मनुष्य की सम्भावनाओं के विकास के मनुष्य की स्वायत्तता के बारे में इतने सारे ख़तरे जो आज मनुष्य के सामने दिख रहे हैं, उनको आज से लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व उस व्यकित ने देखा था। वह व्यक्ति अपने समय से, अपने देश से काफी आगे था।

इस अत्यंत संक्षिप्त भूमिका के बाद अपनी बात दो खंडों में विभक्त करना चाहता हूँ। पहले खंड में बहुत ही संक्षेप में चर्चा करना चाहूँगा कि तात्त्विक दर्शन की दृष्टि से उनके चिंतन में भारत की क्या छवि उतरती है; भारत के तत्त्व-चिंतन में कौन-सी ऐसी बात उन्होंने पायी जो उन्हें लगता है सनातन धर्म '**फिलोसाफिया पेरेनेइया**' बन सकती है और समग्र मानव जाति के लिए, समग्र जीवन के लिए एक वास्तविक प्रेरणा स्रोत बन सकती है। दूसरे खंड में उनकी सौन्दर्य-दृष्टि के संबंध में कुछ बात करना चाहूँगा, क्योंकि बिना पहले तात्त्विक-दृष्टि को समझे सौंदर्य-दृष्टि समझी नहीं जा सकती। वह निरपेक्ष सौंदर्य-दृष्टि मानते नहीं थे। वह मानते थे कि कला जिस प्रकार की कृति है, वह कृति जीवन से अलग नहीं है और जीवन-दर्शन जैसा है वैसा ही कला-दर्शन होता है। कला और

जीवन जब अलग-अलग हो जाते हैं तभी इस प्रकार की विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा होती है कि एक पक्ष कहता है कला कला के लिए, दूसरा पक्ष कहता है कला समाज के लिए, कला जीवन के लिए। लेकिन जब तक कला और जीवन एक रहते हैं तब तक यह द्वैतवाद, द्वैतभाव होता नहीं। यह पश्चिम में हुआ क्योंकि कला वहाँ जीवन से अलग हो गयी, जीवन के साथ उसका तादात्म्य कम हो गया।

अब मैं कुमारस्वामी के तत्त्वदर्शन पर आप से कुछ निवेदन करूँगा।

पहली बात यह है कि आप यह जान लें कि यह बात नहीं है कि कुमारस्वामी भारत की केवल क्षमता देखते थे, भारत के अनन्य अन्ध उपासक थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध निबंध 'पूर्व और पश्चिम' ('ईस्ट एंड वेस्ट') में स्पष्ट रूप से कहा–और मैं उस उद्धरण को जरूर देना चाहता हूँ–

"But India affords the most tragic spectacle of the world, since we see a living and magnificent organisation, akin to but infinitely more complete than Medieval Europe, still in the process of destruction. Inheriting incalculable treasure she is still incalculably poor".[1]

और इसी बात पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने आगे लिखा कि हिन्दुस्तान की दरिद्रता इसमें नहीं है कि वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, इसमें है कि वह जिस को विपन्नता मानता है वह उसकी बड़ी विपन्नता नहीं है; जिसको सम्पन्नता मानना चाहता है, जिसको अपनी सम्पन्नता का पैमाना मानता है, जिसके कारण वह दिखावटी प्रगति की लालसा का शिकार हो चुका है वही उसकी वास्तविक दरिद्रता है। और जो सम्पन्नता उसके पास है, जो आत्मविश्वास है, जो आत्मप्रत्यभिज्ञान उसके पास है, उसकी वह उपेक्षा कर रहा है। इतनी बड़ी वैचारिक और आस्तित्व समृद्धि के बावजूद, यह उपेक्षा ही उसकी वास्तविक दरिद्रता है और यही हिन्दुस्तान की सबसे बडी ट्रैजेडी है, यही उसकी करुणान्त गाथा है। इसी से मैंने कहा कि उन्होंने हिन्दुस्तान की क्षमता ही देखी हो, ऐसी बात नहीं; हिन्दुस्तान की अक्षमता भी वह एक रात्य-स्रष्टा की तरह देखते रहे। यह मैं ज़रूर निवेदन करूँगा कि इतना अनुमान उन्हें भी रहा होगा कि जो घटित हो रहा है, जो आज की स्थिति है उस सीमा तक हम विपन्न हो चुके हैं। आज सारे मूल्य गंगा में विसर्जित किए जा चुके हैं और मूल्यहीनता के कगार के ऊपर हम सब खड़े हैं। मूल्य अगर हैं तो केवल खोखले नारों के रूप में हैं, नारे से अधिक उनका कोई भी मूल्य हमारे जीवन में नहीं रह गया है। पैंतीस वर्षों के भीतर जो पैदा हुए होंगे, उनको स्वाधीनता का संघर्ष एक असम्भव, असत्य, अवास्तविक घटना लगता होगा और लगता है। और अब इतिहास लिखने वाले उस को तोड़-मरोड़ कर लिख भी रहे हैं–कहीं ऐसा कुछ हुआ नहीं, ऐसा कोई संघर्ष हुआ ही नहीं था, यह सब जो हुआ इतिहास के क्रम में हुआ होगा; किसी ने प्रयत्न किया, किसी ने आहुति दी, यह सब रोमांटिक ख़ामख़याली है।

लेकिन हिन्दुस्तान जिन वस्तुओं से बना है वे वस्तुएँ अक्षय हैं, अनन्त हैं, वे मूर्त हैं, वास्तविक हैं, ख़ामख़याली नहीं। उनकी पहचान कराने के लिए दो-तीन बातें जो उन्होंने कहीं, उन्हीं के बारे में मैं निवेदन करना चाहता हूँ। पहली बात उन्होंने कही कि पश्चिम के सामने दो विकल्प हैं : एक विकल्प है कि एक आत्मचालित गति से आगे बढ़ें, एक निश्चित गन्तवय की ओर आगे बढ़ें; एक दूसरा विकल्प हैं कि अपने को धारा में डाल दें, जहाँ नियति ले जाये, वहाँ चले जायें। दूसरा विकल्प

यंत्रजाल की प्रगति की ओर जा रहा है, जहाँ वह पहुँचाये वहीं हम बहते चले जायें। इसे रोकना आवश्यक है और रोकने के लिए ही हिन्दुस्तान की प्रासंगिकता है–हिन्दुस्तान की ही नहीं, हिन्दुस्तान की तरह सोचने वाले, हिन्दुस्तान के साथ वैचारिक-सांस्कृतिक साझेदारी रखने वाले पूर्व एशिया के सभी देश इस मामले में कुछ दे सकते हैं। लेकिन लेने वाला मन होना चाहिए। बिना उसके काम नहीं चल सकता है। और उसे लेने के लिए सब से पहला काम पश्चिम को यह करना पड़ेगा कि जो दूसरे को सुधारने का, दूसरे के मत-परिवर्तन का, दूसरों को अपने मत में खींचने का संकल्प है, संकल्प नहीं उन्माद है, उसे रोकना होगा, उस पर नियन्त्रण करना होगा। उन्होंने कहा कि धर्म-परिवर्तन करने वालों से वे अधिक दयनीय हैं, धर्मान्तरकारियों से अधिक विनाशकारी काम उनका है जो आधुनिकता की दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर आधुनिकता के नशे पर अवलम्बित बना देते हैं, इस तरह का मन बना देते हैं कि तुम आधुनिक तभी बनोगे जब हमारे कहे मुताबिक चलोगे और तुम आधुनिक तभी बने रह सकोगे जब हमसे निर्यातित-माल के ऊपर तुम नित्य अपना पोषण करोगे। नहीं तो तुम्हारी आधुनिकता सुरक्षित नहीं रहेगी। तुम्हारी आधुनिकता सुरक्षित रखने के लिए हमारे यहाँ से विचारों का, सामग्री का, प्रत्येक वस्तु का आयात करना तुम्हारे लिए आवश्यक है। अर्थात् हमें तुम्हें आधुनिक इसलिए नहीं बनाना है कि तुम आधुनिक बनो, इसलिए बनाना है कि तुम आधुनिक बनकर हमारे ऊपर अवलम्बित रहो। जब तक पश्चिम के भीतर इस प्रकार की प्रवृत्ति बनी रहेगी तब तक वह ऐसे देशों से कुछ नहीं ले सकेगा जो पूर्ण दृष्टि दे सकते हैं; खास कर वहाँ के उन लोगों से नहीं ले सकेगा जो पश्चिम से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। अभी तक उन देशों में कुछ ऐसे बने हैं (और ऐसे लोग ज्यादा नहीं बचे हैं), वे नहीं रहेंगे तो लेने की सम्भावना भी चुक जायेगी। समय बीता जा रहा है, पैंठ उठती जा रही है। वस्तु का नहीं, वस्तु की आत्मा का सौदा कर लो, वस्तु के सत्त्व का (एसेंस का) सौदा कर लो अपना अहंकार दे कर। परन्तु कुमारस्वामी को पश्चिम के लोगों ने पागल समझा। भारत के लोगों ने भी उन्हें एक अजूबा ही समझा। पूर्व और पश्चिम को मिलाने के जिस बिन्दु की तलाश कुमारस्वामी ने की, उसकी सार्थकता की पहचान अब अधिक प्रासंगिक हो गयी है, जब अस्ताचल पर जीवन की लाली अधिक गहरा रही है।

पुनर्जागरण की तथाकथित वैज्ञानिकता की जो एक प्रवृत्ति है वह निश्चित रूप से वस्तु को ही महत्त्व देती है। ठीक इसके विपरीत एक प्रज्ञात्मक अनुभव की प्रवृत्ति है कि तुम अपने को वायु में विलीन करते जाओ और जितना तुम अनुभव अर्जित करते हो वही तुम हो–जो तुम अधिगत करते हो, वह तुम नहीं हो, जो दूसरे से प्राप्त करके ज्यों का ज्यों रखते हो वह तुम नहीं हो। लेकिन जो स्वयं खट कर, स्वयं उस में पच कर, गल कर, खप कर के प्राप्त करते हो वही तुम हो। और इस ज्ञान में और वस्तु-निरीक्षणात्मक ज्ञान में अंतर होता है। इसीलिए उन्होंने कहा कि '**नालेज ऑफ़ द वेस्ट एंड विज़डम ऑफ़ द ईस्ट**'–पश्चिम के विज्ञान और पूर्व की प्रज्ञा इन दोनों को कहीं एक बिन्दु पर, एक सेतु पर मिलना है, जब तक ये नहीं मिलेंगे तब तक एक संपूर्ण मानव और एक संपूर्ण जीवन की अवधारणा नहीं हो सकेगी। यहीं से उन्होंने एक आवश्यकता का अनुभव किया और इस आवश्यकता का अनुभव करने के बाद उनको जो सबसे अधिक संभावना भारतीय चिंतन में दिखी वह तीन प्रकार की थी।

पहली संभावना है कि इस चिंतन में एक जाति-निरपेक्ष, काल-निरपेक्ष, व्यक्ति-निरपेक्ष, देश-निरपेक्ष भाव मिल सकता है। यहाँ इतिहास हावी नहीं है, यहाँ इतिहास की दृष्टि मलिन नहीं करती, यह परंपरा से एक स्पष्ट दृष्टि प्राप्त है कि तुम स्वयं जाँचो, तुम्हारे भीतर जितना संक्रान्त होता है, तुमको जितना अपने जीवन के तप से प्राप्त होता है वही तुम्हें परम्परा से दिया गया है। और जब यह तुम्हें अनुभव होता है कि तुम्हें परम्परा से दिया गया है और वह अनुभव तुम्हें अपने तप से होता है तो निश्चित रूप से तुम परंपरा बनते हो, परम्परा तुम्हीं में आकर प्रविष्ट हो जाती है और तुम्हीं से परम्परा आगे बढ़ती है। परम्परा और इतिहास के बीच में रेखा उन्होंने खींची है और कहा कि जो पारंस्परिक दृष्टि है वह प्रामाणिक दृष्टि है, ऐतिहासिक दृष्टि प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उसको जाँचने वाला खोट से जीतता है। प्रामाणिक दृष्टि देखने में लगती है बहुत अमौलिक दृष्टि, क्योंकि जब वह शास्त्रों का उदाहरण देती है कि अमुक ने ऐसा कहा, मैं ही नहीं कह रहा हूँ-लगता है कि वह अपनी बात कह नहीं रही है। लेकिन जो व्यक्ति इतने लोगों के अनुभव को पचा कर कहता है वह अपना अनुभव होते हुए भी निरंतर यही कहता रहता है कि गुरु ने कहा है, यह गुरु का वचन है, गुरु ने यह दिखलाया, मैंने कुछ नहीं देखा-क्योंकि देखने वाला सचमुच वह व्यक्ति है ही नहीं, देखने वाला समष्टि के साथ एकात्म हो चुका है। तभी वह देखता है और तभी समष्टि-चिंतन में वह प्रामाण्य ढूंढता है, उस प्रामाण्य के साथ अपने को जोड़ता है। ऐतिहासिक चिंतन एक विच्छिन्न चिंतन है, एक असंकलित चिंतन होता है, **डिस-इंटेग्रेटेड** चिंतन होता है, लेकिन पारम्परिक चिंतन एक संकलित चिंतन होता है, **इंटेग्रेटेड** चिंतन होता है; इस चिंतन की मनुष्य के लिए कितनी आवश्यकता है इस पर सबसे अधिक बल भारत के चिंतन में दिया गया है। सारी परम्परा साकल्य की प्रक्रिया है, संसिद्ध वस्तु नहीं। कुमारस्वामी ने पहली विशेषता भारत के चिंतन में यह देखी।

दूसरी विशेषता उन्होंने यह देखी कि पश्चिम का संसार जो आज एक कबन्ध के रूप में हो गया है-सिर नहीं रह गया है, घड़ रह गया है-उसका कारण है। उसने सिर की निरंतर उपेक्षा की, उसने घड़ को, पेट को अधिक महत्त्व दिया। वह यह भूल गया कि जिस को भूख लगती है वह अनुभव करने वाला सिर है। उसकी उपेक्षा उसने की। परिणाम यह है कि भोग की प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गयी है और बजाय दूसरों के पेट के लिए हम कुछ करें, अपने पेट के लिए कुछ करने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी है। कुमारस्वामी ने कहा कि अगर पश्चिम में कहीं परार्थ चिंतन है भी तो उसके पीछे भी एक स्वार्थ है। वह स्वार्थ होता है अपनी शासन-शक्ति के विस्तार का स्वार्थ, अपने प्रभाव के विस्तार का स्वार्थ, अपनी शासन-पद्धति की साझेदारी का स्वार्थ, अपनी शिक्षा-पद्धति की साझेदारी का स्वार्थ, अपनी व्यापार-पद्धति, अर्थ-पद्धति की साझेदारी का स्वार्थ-कि यही पद्धति दूसरे अपनायें। उनकी परार्थ भावना के पीछे एक छोटी, अत्यंत क्षुद्र भावना है। इसके विपरीत पूर्व के चिंतन में, विशेष कर भारत के चिंतन में, उन्होंने देखा कि वस्तुतः परार्थ और स्वार्थ-ये दोनों जो अलग-अलग खंड दिखते हैं ऐसे हैं ही नहीं, वहाँ अपने लिए अपनी, आत्मा के लिए आत्मा की आहुति दी जाती है; अपने भीतर रहने वाले पुरुष के लिए अपने बाहर के पुरुष की आहुति दी जाती है। अर्थात् यह जो द्वन्द्व है वह कहीं बाहर नहीं है, भीतर है, कहीं बाहर प्रतिस्पर्द्धा नहीं है भीतर है। इसीलिए स्वाधीनता की अवधारणा इसमें नहीं है कि हम स्व की घोषणा करें; हम स्व की अपनी

अधीनता की घोषणा करें इसमें सवाधीनता नहीं है। स्वाधीनता है आत्म-नियंत्रण में, आत्म-वशीकरण में। 'स्वातन्त्र्य' शब्द का यही अर्थ है, स्वाधीन शब्द का यही अर्थ है कि अपने अधीन होना, अपने तंत्र को स्वीकार करना, अपने स्वभाव के अनुकूल जो हो सकता है, जो विस्तार की, विकास की संभावना हो सकती है उसको पुनः प्राप्त करना-यही स्वाधीनता है। यह नहीं कि अपनी बात हम ज़ोर से रख दें, यह अधिकार हमें प्राप्त हो जाये, मात्र यह स्वाधीनता है। भारत इसको स्वाधीनता नहीं मानता। स्वाधीनता की यह भारतीय परिभाषा मनुष्य की स्वाधीन चेतना के लिए, विशेष रूप से दो-दो विश्वयुद्धों से जर्जर मनुष्य की स्वाधीनता की चेतना के उदय के लिए अत्यंत आवश्यक है।

एक तीसरी संभावना जो उन्होंने देखी वह यह कि पश्चिम का ज्ञान ऐन्द्रिय संवेदन पर बहुत कुछ आधृत है। भारत का ज्ञान ऐन्द्रिय संवेदन से प्राप्त ज्ञान को तृतीय कोटि में रखता है; प्रत्यक्ष के दो स्तर करता है, एक स्तर है ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, उससे गहरा स्तर है मन का, बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष का। सबसे गहरा स्तर है ध्यान के द्वारा आत्मप्रत्यक्ष का; भारत उसको सबसे अधिक वास्तविक मानता है। आज की दृष्टि में ध्यान के द्वारा श्रीकृष्ण का, दुर्गा का या किसी का जो प्रत्यक्ष होता है वह **अन्‌रीयल** है, अवास्तविक है। भारत की दृष्टि में वही वास्तविक है, वास्तविकतर है; वास्तविकतम नहीं है, लेकिन इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष से अधिक विश्वसनीय है क्योंकि उसमें जो एकाग्रता है, दूसरे विषयों के संस्पर्श से जो साहित्य है वह उसको अधिक शुद्धतर बनाता है। लेकिन उससे भी गहरे स्तर का जो प्रत्यक्ष होता है वह मन में भी नहीं रहता, जो शुद्ध रूप से आत्मा का आत्मा के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। वह प्रत्यक्ष सबसे अधिक विश्वसनीय है और उस प्रत्यक्ष से आलोकित हो कर, पुष्ट होकर दूसरे प्रत्यक्ष सार्थक होते हैं, वास्तविक होते हैं। उन्हें वास्तविकता की पहंचान इसी प्रत्यक्ष से होती है। हमारी प्रज्ञा का स्वरूप ध्यान के द्वारा, विमर्श के द्वारा प्राप्त रूप है, आत्म रूप है। स्वरूप का विमर्श-यही ज्ञान की चरम अवस्था है। यह ज्ञान किसी भी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर अवलम्बित नहीं है; ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में दोष हो सकता है, लेकिन परिशुद्ध चरित्र और परिशुद्ध चरित्र की परिशुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष कभी भी अप्रामाणिक नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने कहा है कि इसी प्रत्यक्ष से यह सिद्ध होता है कि जीवन एक है, अखंड है और इस की एकता तीन बातों में है; कि समस्त जीवन का स्रोत एक है, समस्त जीवन का **एसेंस** उसका अस्ति भाव एक है, और समस्त जीवन का लक्ष्य एक है। और गीता के इस वचन का उन्होंने उद्धरण किया है-

> **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।**
> **अविभक्तं विभक्तेषु ज्ञानं तद्विद्धि सात्विकं।।**

दिखता है अलग-अलग, लेकिन सब में अविभक्त है और जितने अस्तित्व हैं उनमें अस्तित्व के स्तर पर यह लग सकता है कि अलग-अलग प्रतीति है, लेकिन भाव के स्तर पर, **विकमिंग** के होने के, लक्ष्य की ओर गतिशील होने के स्तर पर सबमें एकता है। और यही अनेकता में एकता है, नानात्व में अनानात्व है। नानात्व में एकत्व का अर्थ यह नहीं है कि अनेक प्रकार के भूत हैं। अनेक प्रकार वे अतीत रूप में हैं, लेकिन उनकी जो संभावनाएँ हैं, उनकी जो गति है आगे की ओर उनमें जो जीवन की लालसा है, उसमें एकत्व है और उसी एकत्व का अनुसंधान जीवन का परम लक्ष्य है, यही परम पुरुषार्थ है। इसीलिए वह ऐसा मानते हैं कि हिन्दू जीवन विशेष रूप से सकलीकृत एकीकृत जीवन

है। हालाँकि इस स्तर पर उन्होंने बौद्धों की, जैनों की, सिखों की साधना में कोई अंतर नहीं किया और उन्होंने एक ही प्रकार का प्रतीक-दर्शन हिन्दू, बौद्ध, जैन तीनों के उपदेष्टाओं में, तीनों की ध्यान-मूर्तियों में देखा। एक ही सौर प्रतिमान तीनों जगह हैं; सूर्य के रूप में, चक्रवर्ती के रूप में, जीवन चक्र के **प्रवर्तयिता**, धर्म चक्र के **प्रवर्तयिता** के रूप में, सुदर्शन चक्रधारी के रूप में उस दृष्टि चक्र को, जीवन चक्र को निरन्तर चलाते रहने वाले के रूप में और अंधकार के भेदन करने वाले के रूप में, जीवन को आविद्ध करने वाले के रूप में, एक ही प्रकार का प्रतिबिम्ब-दर्शन उन्होंने समस्त साधनाओं में किया, समस्त साधनाओं की प्रक्रिया में एक ही बात उन्होंने देखी। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इस एकत्व का अनुसंधान वे कर पाये। इस स्तर पर सूफ़ी साधकों, मध्ययुगीन ईसाई साधकों और वैदिक ऋषियों, बौद्ध साधकों, जैन साधकों, सबकी साधना को एक बिन्दु पर उंन्होंने पाया। इस एकत्व का अनुसन्धान करने के ही कारण वे सबसे अधिक वरेण्य हैं। पश्चिम में जो लोग उनसे असहमत हैं, जो सोचते हैं कि यह असम्भव व्यक्ति है, वे भी कहते हैं कि यह व्यक्ति अत्यन्त गहराई में जा कर वस्तुओं को देखता है, उतनी गहराई में जा पाना साधारण व्यक्ति के लिए असंभव है। जो व्यक्ति **'कॉमन मैन'** आम आदमी की बात करने वाले ज़माने में कहता है-किसको **कॉमन मैन** कहते हो। **कॉमन मैन** कौन है **कॉमन मैन** है ब्लेक के शब्दों में **'द मैन इन एवरी मैन'**, हर एक आदमी में वह मनुष्य, हर एक आदमी में **'द मैन'**, हरएक मनुष्य में वह सर्वान्तरव्यापी सब मनुष्यों में मनुष्य, वह दिव्य मनुष्य, वह दिव्य चेतना-वही है **कॉमन मैन। कॉमन मैन** का अर्थ यह नहीं है जो आप ने आम आदमी के रूप में मान रखा है-आकारहीन, गुणहीन व्यक्ति। ऐसा नहीं। वह विशेष व्यक्ति है **कॉमन मैन** जो सबमें हैं, सबमें अनुस्यूत है। घही विशेष व्यक्ति ही **कॉमन मैन** है, वही सब में कॉमन है, समान रूप से प्रवाहित है और उसको देखना **कॉमन मैन** को देखना है। आकारहीन, गुणहीन, चेहराहीन व्यक्ति को देखना **कॉमन मैन** को देखना नहीं है। इतनी चुनौती की बात जो कह सके, उससे पश्चिम का भी विचारक घबड़ायेगा ही। उस विचारक को लगता है कि यह आदमी अकेले छोड़ने लायक नहीं है और कम से कम उनके ज़माने में दो-तीन ऐसे विचारक हुए हैं। रेने, ब्रूनो, मार्को पोलेस, एरिख फ्रॉम जैसे विचारक हैं जो कुमारस्वामी के पथ के सहयात्री हैं, जो पश्चिम की नियति का साक्षात्कार कर रहे हैं कि आज से पचास वर्ष बाद क्या घटित होने वाला है, जो श्पेंग्लर के साथ और अपने पूर्ववर्ती इतालवी विचारकों के साथ गहरी चिंता में निमग्न हैं कि इतनी बड़ी मानव जाति कितने बड़ ख़तरे की ओर चली जा रही है, किस प्रकार एक उपभोग-प्रधान संस्कृति की छाया का गहरा विस्तार होता चला जा रहा है, एक गहरा अंधकार घिरता चला जा रहा है।

अब मैं इस बात पर आता हूँ कि कुमारस्वामी ने धर्म को किस रूप में ग्रहण किया, विशेष रूप से हिन्दू धर्म को। क्योंकि हम धर्म को समझेंगे तो कला को भी समझेंगे। कला, साहित्य उनके लिए धर्म से कोई अलग चीज़ नहीं है, वह भी धर्म है, एक विशेष प्रकार की अवस्था का धर्म है, एक विशेष प्रकार की शक्ति की ऊर्जा दिलाने वाला धर्म। धर्म के बारे में कुमारस्वामी की अवधारणा के तीन स्तर हैं। एक तो वह मानते हैं कि हिन्दू धर्म में एक क्षमता है निरंतर **मिथ** रचते रहने की। और यह **मिथ**, यह इतिहास, यह पुराण, कवि-कल्पना नहीं है, यह जीवन के प्रथम सत्य की सांक्षात्कृति

है। उस प्रथम सत्य के समीपस्थ जो भाषा हो सकती है उसके द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न ही **मिथ** है। और सबसे पहला प्रथम सत्य है कि वृत्रासुर और उस वृत्रासुर को मारने वाला इन्द्र एक है, वही ड्रेगन है और वही **ड्रेगन किलर** है; वही आवरण है, वही आवरण-भेदक है। उन्होंने कहा कि दोनों एक ही हैं; देखने में लगता है वृत्रासुर अलग है; इन्द्र अलग है; लेकिन इन्द्र ही वृत्रासुर है, वृत्रासुर ही इन्द्र है। और यह जो कोई चीज़ घेर लेती है और घेर करके एक व्यक्ति का आवरण बन जाती है, उसी आवरण को भीतर से घिरने वाला चीरना चाहता है, उस सारे कोश को दूर करना चाहता है क्योंकि भीतर वाला पुरुष महसूस करता है कि हम इसके कैदी हो गये हैं, वह मुक्त होना चाहता है। लेकिन उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है जब तक कि आवरण की भी मुक्ति नहीं होती है क्योंकि आवरण भी कैदी है उसके साथ। दोनों की कैद से मुक्ति के लिए वह आवरण हटाया जाता है। वृत्र की मृत्यु नहीं है, वृत्र की मुक्ति है और मृत्यु है तो दोनों की-वृत्र की भी, इन्द्र की भी।

और इस **मिथ** का विस्तार अनेक रूपों में हुआ है। इस मिथ का विस्तार यज्ञ की प्रक्रिया के रूप में हुआ है, इस **मिथ** का विस्तार सोम के रूप में हुआ है, सोम को अग्नि में डाला जाता है, सोम की आहुति दी जाती है, अर्थात् जीवन-रस अग्नि में डाला जाता है। किसलिए डाला जाता है? कि जीवन-रस अग्नि में डाल करके हम पुनः जीवन की सृष्टि करें, अग्नि में पड़ कर वह जो द्वैत भाव है वह नष्ट हो जाये, जो आवरण और आवृत के बीच, ढँकने वाले और ढंके हुए के बीच एक द्वैतभाव स्थापित हो गया है वह द्वैत नष्ट हो जाये। और निरन्तर जब द्वैत नष्ट होता रहता है तो सृष्टि नयी होती रहती है। तो सृष्टि का नवीकरण, अखंडता की बार-बार प्राप्ति, यही यज्ञ का लक्ष्य है, यही मिथों का लक्ष्य है। हम जो बार-बार टूटते हैं तो बार-बार जुड़ने का संकल्प, बार-बार जुड़ने की प्रक्रिया ही जीवन है, यही यज्ञ है। यज्ञ केवल आहुति नहीं है, वह साकल्य भी है। समूचे जीवन में जो कर्म की कुशलता है, वह भी इसी अखंडता की, इसी पूर्णता की प्राप्ति के लिए है। कर्म अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, कर्म में जो एकाग्रभाव से कुशलता है, वही साध्य है, वह कुशलता ही योग और उस कुशलता के द्वारा ही पूर्णता की, **पर्फेक्शन** की प्राप्ति होती है; एक भूमा की, उत्कृष्टता की प्राप्ति होती है, परत्व की प्राप्ति होती है।

तो यह जो **मिथ** के रचने की प्रक्रिया है वही जीवन की प्रक्रिया है। वह जीवन की आकांक्षा से अलग नहीं है। जीवन की आकांक्षा ही इस प्रकार के **मिथ** में संगृहीत है और उस **मिथ** के अनेक विस्तार होते चले गये हैं। जैसे-जैसे हिन्दू जीवन ने अनेक प्रभावों को आत्मसात् किया है और सम्पूर्ण जीवन की सम्पूर्ण संभावनाओं को देखा है, वैसे-वैसे उसमें नयी चीज़ जुड़ती गयी है, नया अर्थ जुड़ता गया है। और वही भक्ति में परिणत हो गयी है क्योंकि भक्ति का अर्थ ही यह है कि भाग प्राप्त करना। भाग प्राप्त करने का अर्थ लेना ही नहीं, देना भी है क्योंकि जो देता नहीं है वह पाता नहीं है, जितना देता है उतना पाता है। भक्ति दोनों प्रकार की स्थिति है-देना और पाना। भक्ति सौदा नहीं है। मीरा कहती हैं **'मैंने गोविन्द लीनो मोल'**, वहाँ भाषा तो सौदे की होती है क्योंकि वही भाषा आसानी से समझ में आती है, लेकिन सौदा है नहीं। वह एक प्रकार से पारिवारिक **पार्टनरशिप** है, सपिंड की साझेदारी है और इस साझेदारी से ही सारा हिन्दू धर्म व्यवस्थित है। पाठक को यह जान कर कुछ धक्का लग सकता है-और धक्का लगना चाहिए-कि कुमारस्वामी वर्णाश्रम-व्यवस्था के समर्थक हैं,

इस टिप्पणी के साथ समर्थक हैं कि 'आधुनिक जीवन का दबाव इसमें कुछ परिवर्तन अनिवार्यतः लायेगा और वह परिवर्तन कर्म के कौशल से प्रेरित होगा', क्योंकि वह मानते हैं कि कलाकार की कला-सृष्टि-जब इस दृष्टि से होती है कि अद्वितीय है, अपूर्व है तो वह अपूर्व नहीं है। अपूर्व वह तब हो सकती है जब इस दृष्टि से होती है कुछ भी अपूर्व नहीं है, यह तो हमें साँचा दिया गया है, प्रविधि दी गयी है, एक ध्यान दिया गया है, एक मान दिया गया है-सब कुछ तो हमें दिया हुआ है, पूरा शास्त्र हमें दिया हुआ है, हम रच नहीं रहे हैं, जो दिया हुआ है उसके साथ अपने को जोड़ने की हम कोशिश कर रहे हैं, जो रच जाता है वह हम नहीं है, वह कुछ हमसे अलग है क्योंकि हमारे बावजूद, हमको काट करके, हमको ध्वस्त करके, हमको निरस्त करके, हमको नष्ट करके, हमको उसी में लीन करके रचा जा रहा है। इसलिए वह कला-सृष्टि हमारे बावजूद है, हमारी इच्छा से, हमारी चाहना से, हमारे संकल्प से नहीं है। हमारा संकल्प कला-सृष्टि है ही नहीं। हमारा संकल्प है जो हमें दिया गया है उसके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पण; और जो कर्म, जिस प्रकार का कर्म, जिस प्रकार का व्यवसाय हमको प्राप्त है, जो हमको अपने स्वभाव के रूप में प्राप्त है, उसका विकास ही हमारा लक्ष्य है। हम विकास करते हैं, उस दी हुई सरणि पर करते हैं तो जो हो जाये वह उस पद्धति का है, उस सरणि का है, उस परम्परा का है; हमारा कुछ नहीं है, हमारा उसमें कोई स्थान नहीं है। कुमारस्वामी की कला दृष्टि यहीं से उद्‌भूत है, वह यज्ञ के इस रूप में, अर्पित कर्म के रूप में रूपान्तरित होने का ही परिणाम है।

अन्त में मैं अपनी बात इस बिन्दु पर समाप्त करूँगा कि कुमारस्वामी के मत से सहज की साधना ही चरम पुरुषार्थ है। आपको आश्चर्य होगा कि उन्होंने चंडीदास और विद्यापति दोनों पर भूमिकाएँ लिखी हैं। और **इराटिक सिम्बोलिज्म** (रति की प्रतीकता) को दूसरी दृष्टि से समझने की कोशिश की है, क्षमायाची होकर नहीं, अध्यात्म की बड़ी जबरदस्त खोल चढ़ा कर भी नहीं। उन्होंने कहा, सहज होने का अर्थ यह है कि तुम न चलो यह कोई बड़ी बात नहीं है; चलने से अपने को रोक सकते हो; लेकिन चलो और लगे नहीं कि चल रहे हो, यह बड़ी बात है। यही सहज होना है। तुम इस संसार में अपने को बिल्कुल सम्पृक्त करो, लेकिन लगे नहीं कि तुम सम्पृक्त हो, लगे जैसे कि कुछ हो ही नहीं रहा है, यह तो बहुत सहज भाव है। इस सहज की सिद्धि जब होती है तभी धर्म की वास्तविक सिद्धि होती है। कुमारस्वामी का भारत-दर्शन सहज को साधने में चरितार्थ होता है, वह न कोरा वाग्विलास है, न जीवन से पलायन, न जीवन में फँसाव।

संदर्भ

1. भारत ही विश्व में सबसे करुण दृश्य दिखा सकता है। इतना जीवन्त और भव्य संगठन जो मध्य यूरोप के समान है, बल्कि उससे कुछ अधिक पूर्ण है और इतने अपरिमेय कोप के उत्तराधिकार के बावजूद इतना दरिद्र और ऐसा विनाशोन्मुख-इससे अधिक करुण और क्या होगा।

Vidya Niwas Mishra speaking at Chitrangda Hall, Bagaha in 196? (Photograph from the collection of Dinesh Bhramar)

Ananda K. Coomaraswamy in 1937